

गांधीजी का संदेश

(8 से 15 आयु के बच्चों के लिए)

विषय-सूची

१. मेरा विद्यार्थी-जीवन ('आत्मकथा' से)
२. चोरी और प्रायश्चित्त ('आत्मकथा' से)
३. धर्म की झलक ('आत्मकथा' से)
४. सेवाभाव और सादगी ('आत्मकथा' से)
५. अद्भुत त्याग ('आश्रमवासियों' से)
६. शुद्ध न्याय ('धर्मनीति' से)
७. वाचन और विचार ('धर्मनीति' से)
८. शरीर ('आरोग्य की कुंजी' से)
९. हवा और पानी ('आरोग्य की कुंजी' से)

१. मेरा विद्यार्थी-जीवन

मेरा बचपन पोरबन्दर में ही बीता। याद पड़ता है कि मुझे किसी पाठशाला में भरती किया गया था। मुश्किल से थोड़े से पहाड़े मैं सीखा था। मुझे सिर्फ इतना याद है कि मैं उस समय दूसरे लड़को के साथ अपने शिक्षकों को गाली देना सीखा था। और कुछ याद नहीं पड़ता। इससे मैं अंदाज लगाता हूँ कि मेरी बुद्धि मंद रही होगी और स्मरण-शक्ति कच्ची।

पोरबन्दर से पिताजी 'राजस्थानिक कोर्ट' के सदस्य बनकर राजकोट गये। उस समय मेरी उमर सात साल की होगी। मुझे राजकोट की ग्रामशाला में भरती किया गया। इस शाला के दिन मुझे अच्छी तरह याद हैं। शिक्षकों के नाम-धाम भी याद हैं। पोरबन्दर की तरह यहाँ की पढ़ाई के बारे में भी ज्ञान के लायक कोई खास बात नहीं है। मैं मुश्किल से साधारण श्रेणी का विद्यार्थी रहा होऊंगा। ग्रामशाला से उपनगर की शाला में और वहाँ से हाईस्कूल में। यहाँ तक पहुँचने में मेरा बारहवाँ वर्ष बीत गया। मुझे याद नहीं पड़ता कि इस बीच मैंने किसी भी समय शिक्षकों को धोखा दिया हो। न तब तक किसी को मित्र बनाने का स्मरण है। मैं बहुत ही शरमीला लड़का था। घंटी बजने के समय पहुँचता और पाठशाला के बन्द होते ही घर भागता। 'भागना' शब्द मैं जान-बूझकर लिख रहा हूँ, क्योंकि बातें करना मुझे अच्छा न लगता था। साथ ही यह डर भी रहता था कि कोई मेरा मजाक उड़ायेगा तो ?

हाईस्कूल के पहले ही वर्ष की परीक्षा के समय की एक घटना उल्लेखनीय हैं। शिक्षा विभाग के इन्सपेक्टर जाइल्स विद्यालय की निरीक्षण करने आये थे। उन्होंने पहली कक्षा के विद्यार्थियों को अंग्रेजी के पाँच शब्द लिखवाए। उनमें एक शब्द 'केटल' (kettle) था। मैंने उसके हिज्जे गलत लिखे थे। शिक्षक ने अपने बूट की नोक मारकर मुझे सावधान किया। लेकिन मैं क्यों सावधान होने लगा ? मुझे यह ख्याल ही नहीं हो सका कि शिक्षक मुझे पासवाले लड़के की स्लेट देखकर हिज्जे सुधार लेने को कह रहे हैं। मैंने यह माना था कि शिक्षक तो यह देख रहे हैं कि हम एक-दूसरे की पट्टी में देखकर नकल न करें। सब लड़कों के पाँचों शब्द सही निकले और अकेला मैं बेवकूफ ठहरा। शिक्षक ने मुझे मेरी बेवकूफी बाद में समझायी। लेकिन मेरे मन पर कोई असर न हुआ। मैं दूसरे लड़को की पट्टी में देखकर नकल करना कभी न सीख सका।

ऐसा होते हुए भी शिक्षक के प्रति मेरा विनय कभी कम न हुआ। बड़ों के दोष न देखने का गुण मुझ में स्वभाव से ही था। बाद में इन शिक्षक के दूसरे दोष भी मुझे मालूम हुए थे। फिर भी उनके प्रति मेरा आदर बना ही रहा। मैं यह जानता था कि बड़ों का आज्ञा का पालन करना चाहिये। वे जो कहें सो करना करे उसके काजी न बने। इसी समय के दो और प्रसंग मुझे हमेशा याद रहे हैं। साधारणतः पाठशाला की पुस्तकों छोड़कर और कुछ पढ़ने का मुझे शौक नहीं था। सबक याद करना चाहिये, उलाहना सहा नहीं जाता, शिक्षक को धोखा देना ठीक नहीं,

इसलिए मैं पाठ याद करता था। लेकिन मन अलसा जाता, इससे अक्सर सबक कच्चा रह जाता। ऐसी हालत में दूसरी कोई चीज पढ़ने की इच्छा क्यों कर होती? किन्तु पिताजी की खरीदी हुई एक पुस्तक पर मेरी दृष्टि पड़ी। नाम था 'श्रवण-पितृ-भक्ति' नाटक। मेरी इच्छा उसे पढ़ने की हुई और मैं उसे बड़े चाव के साथ पढ़ गया। उन्हीं दिनों शीशे से चित्र दिखाने वाले भी घर-घर आते थे। उनके पास भी श्रवण का वह दृश्य भी देखा, जिसमें वह अपने माता-पिता को काँवर में बैठाकर यात्रा पर ले जाता हैं। दोनों चीजों का मुझ पर गहरा प्रभाव पड़ा। मन में इच्छा होती कि मुझे भी श्रवण के समान बनना चाहिये। श्रवण की मृत्यु पर उसके माता-पिता का विलाप मुझे आज भी याद हैं।

इन्हीं दिनों कोई नाटक कंपनी आयी थी और उसका नाटक देखने की इजाजत मुझे मिली थी। उस नाटक को देखते हुए मैं थकता ही न था। हरिश्चंद्र का आख्यान था। उस बार-बार देखने की इच्छा होती थी। लेकिन यों बार-बार जाने कौन देता ? पर अपने मन में मैंने उस नाटक को सैकड़ों बार खेला होगा। हरिश्चंद्र की तरह सत्यवादी सब क्यों नहीं होते ? यह धुन बनी रहती। हरिश्चंद्र पर जैसी विपत्तियाँ पड़ी वैसी विपत्तियों को भोगना और सत्य का पालन करना ही वास्तविक सत्य हैं। मैंने यह मान लिया था कि नाटक में जैसी लिखी हैं, वैसी विपत्तियाँ हरिश्चंद्र पर पड़ी होगी। हरिश्चंद्र के दुःख देखकर उसका स्मरण करके मैं खूब रोया हूँ। आज मेरी बुद्धि समझती है कि हरिश्चंद्र कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं था। फिर भी मेरे विचार में हरिश्चंद्र और श्रवण आज भी जीवित हैं। मैं मानता हूँ कि आज भी उन नाटकों को पढ़ूँ तो आज भी मेरी आँखों से आँसू बह निकलेंगे।

जब मेरा विवाह हुआ उस समय मैं हाईस्कूल में पढ़ता था। मेरे साथ मेरे और दो भाई भी उसी स्कूल में पढ़ते थे। बड़े भाई ऊपर के दर्जे में थे और जिन भाई का विवाह के साथ मेरा विवाह हुआ था, वे मुझसे एक दर्जा आगे थे। विवाह का परिणाम यह हुआ कि हम दो भाईयों का एक वर्ष बेकार गया। मेरे भाई के लिए तो परिणाम इससे भी बुरा रहा। विवाह के बाद वे स्कूल पढ़ ही न सके। कितने नौजवानों को ऐसे अनिष्ट परिणाम का सामना करना पड़ता होगा, भगवान ही जाने !

मेरी पढ़ाई चलती रही। हाईस्कूल में मेरी गिनती मन्द-बुद्धि विद्यार्थियों में नहीं थी। शिक्षकों का प्रेम मैं हमेशा ही पा सका था। हर साल माता-पिता के नाम स्कूल में विद्यार्थी की पढ़ाई और उसके आचरण के संबंध में प्रमाण-पत्र भेजे जाते थे। उनमें मेरे आचरण या अभ्यास के खराब होने की टीका कभी नहीं हुई। दूसरी कक्षा के बाद मुझे इनाम भी मिलें और पाँचवीं तथा छठी कक्षा में क्रमशः प्रतिमास चार और दस रुपयों की छात्रवृत्ति भी मिली थी। इसमें मेरी होशियारी की अपेक्षा भाग्य का अंश अधिक था। ये छात्रवृत्तियाँ सब विद्यार्थियों के लिए नहीं थी, बल्कि सौराष्ट्र प्रान्त से सर्वप्रथम आनेवालों के लिए थी। चालिस-पचास विद्यार्थियों की कक्षा में उस समय सौराष्ट्र के विद्यार्थी कितने हो सकते थे ?

मेरा अपना ख्याल है कि मुझे अपनी होशियारी का कोई गर्व नहीं था। पुरस्कार या छात्रवृत्ति मिलने पर मुझे आश्चर्य होता था। पर अपने आचरण के विषय में मैं बहुत सजग था। आचरण में दोष आने पर मुझे रुलाई आ

ही जाती थी। मेरे हाथों कोई भी ऐसा काम बने, जिससे शिक्षक को मुझे डाँटना पड़े अथवा शिक्षकों का ख्याल बने तो वह मेरे लिए असह्य हो जाता था। मुझे याद है कि एक बार मुझे मार खानी पड़ी थी। मार का दुःख नहीं था, पर मैं दण्ड का पात्र माना गया, इसका मुझे बड़ा दुःख रहा। मैं खूब रोया। यह प्रसंग पहली या दूसरी कक्षा का है। दूसरा एक प्रसंग सातवीं कक्षा का है। उस समय दोराबजी एदलजी गीमी हेड-मास्टर थे। वे विद्यार्थी प्रेमी थे, क्योंकि वे नियमों का पालन करवाते थे, व्यवस्थित रीति से काम लेते और अच्छी तरह पढ़ाते थे। उन्होंने उच्च कक्षा के विद्यार्थियों के लिए कसरत-क्रिकेट अनिवार्य कर दिये थे। मुझे इनसे अरुचि थी। इनके अनिवार्य बनने से पहले मैं कभी कसरत, क्रिकेट या फुटबाल में गया ही न था। न जाने का मेरा शरमीला स्वभाव ही एक मात्र कारण था। अब मैं देखता हूँ कि वह मेरी अरुचि मेरी भूल थी। उस समय मेरा यह गलत ख्याल बना रहा कि शिक्षा के साथ कसरत का कोई सम्बन्ध नहीं है। बाद में मैं समझा कि विद्याभ्यास में व्यायाम का, अर्थात् शारीरिक शिक्षा का, मानसिक शिक्षा के समान ही स्थान होना चाहिये।

फिर भी मुझे कहना चाहिये कि कसरत में न जाने से मुझे नुकसान नहीं हुआ। उसका कारण यह रहा कि मैंने पुस्तकों में खुली हवा में घुमने जाने की सलाह पढ़ी थी और वह मुझे रुची थी। इसके कारण हाईस्कूल की उच्च कक्षा से ही मुझे हवाखोरी की आदत पड़ गयी थी। वह अन्त तक बनी रही। टहलना भी व्यायाम तो ही है ही, इससे मेरा शरीर अपेक्षाकृत सुगठित बना।

व्यायाम के बदले मैंने टहलने का सिलसिला रखा, इसलिए शरीर को व्यायाम न देने की गलती के लिए तो शायद मुझे सजा नहीं भोगनी पड़ी, पर दूसरी गलती की सजा मैं आज तक भोग रहा हूँ। मैं नहीं जानता कि पढाई में सुन्दर लेखन आवश्यक नहीं है, यह गलत ख्याल मुझे कैसे हो गया था। पर ठेठ विलायत जाने तक यह बना रहा। बाद में, और खास करके, जब मैंने वकीलों के तथा दक्षिण अफ्रीका में जन्मे और पढ़े-लिखे नवयुवकों के मोती के दानों- जैसे अक्षर देखे तो मैं शरमाया और पछताया। मैंने अनुभव किया कि खराब अक्षर अधूरी शिक्षा की निशानी मानी जानी चाहिये। हरएक नवयुवक और नवयुवती मेरे उदाहरण से सबक ले और समझे कि अच्छे विद्या का आवश्यक अंग है।

इस समय के विद्याभ्यास के दूसरे दो संस्मरण उल्लेखनीय है। चौथी कक्षा में थोड़ी पढ़ाई अंग्रेजी माध्यम से होनी थी। मेरी समझ में कुछ न आता था। भूमिति भी चौथी कक्षा से शुरू होती थी। मैं उसमें पिछड़ा हुआ था ही, तिस पर मैं उसे बिल्कुल समझ नहीं पाता था। भूमिति के शिक्षक अच्छी तरह समझाकर पढ़ाते थे, पर मैं कुछ समझ ही न पाता था। मैं अकसर निराश हो जाता था। जब प्रयत्न करते-करते मैं युक्लिड के तेरहवें प्रमेय तक पहुँचा, तो अचानक मुझे बोध हुआ कि भूमिति तो सरल से सरल विषय है। जिसमें केवल बुद्धि का सीधा और सरल प्रयोग ही करना है, उसमें कठिनाई क्या है? उसके बाद तो भूमिति मेरे लिए सदा ही सरल और सरस विषय बना रहा।

भूमिति की अपेक्षा संस्कृत ने मुझे अधिक परेशान किया। भूमिति में रटने की कोई बात थी ही नहीं, जब कि मेरी दृष्टि से संस्कृत में तो सब रटना ही होता था। यह विषय भी चौथी कक्षा में शुरू हुआ था। छठी कक्षा में मैं हारा। संस्कृत के शिक्षक बहुत कड़े मिजाज के थे। विद्यार्थियों को अधिक सिखाने का लोभ रखते थे। संस्कृत वर्ग और फारसी वर्ग के बीच एक प्रकार की होड़ रहती थी। फारसी सिखाने वाले मौलवी नरम मिजाज के थे। विद्यार्थी आपस में बात करते कि फारसी तो बहुत आसान है और फारसी शिक्षक बहुत भले हैं। विद्यार्थी जितना काम करते हैं, उतने से वे संतोष कर लेते हैं। मैं भी आसान होने की बात सुनकर ललचाया और एक दिन फारसी वर्ग में जाकर बैठा। संस्कृत शिक्षक को दुःख हुआ। उन्होंने मुझे बुलाया और कहा: "यह तो समझ कि तू किनका लड़का है। क्या तू अपने धर्म की भाषा नहीं सीखेगा? तुझे जो कठिनाई हो सो मुझे बता। मैं तो सब विद्यार्थियों को बढ़िया संस्कृत सिखाना चाहता हूँ। आगे चल कर उसमें रस के घूंट पीने को मिलेंगे। तुझे यो तो हारना नहीं चाहिये। तू फिर से मेरे वर्ग में बैठ।"

मैं शरमाया। शिक्षक के प्रेम की अवमानना न कर सका। आज मेरी आत्मा कृष्णशंकर मास्टर का उपकार मानती है। क्योंकि जितनी संस्कृत मैं उस समय सीखा उतनी भी न सीखा होता, तो आज संस्कृत शास्त्रों में जितना रस ले सकता हूँ उतना न ले पाता। मुझे तो इस बात का पश्चाताप होता है कि मैं अधिक संस्कृत न सीख सका। क्योंकि बाद में मैं समझा कि किसी भी हिन्दू बालक को संस्कृत का अच्छा अभ्यास किये बिना रहना ही न चाहिये।

२. चोरी और प्रायश्चित

मांसाहार के समय के और उसके पहले के अपने कुछ दोषों का वर्णन करना अभी रह गया है। वे या तो विवाह से पहले के हैं या कुछ ही बाद के।

अपने एक रिश्तेदार के साथ में मुझे बीड़ी पीने को शौक लगा। हमारे पास पैसे नहीं थे। हम दोनों में से किसी का यह ख्याल तो नहीं था कि बीड़ी पीने में कोई फायदा है, अथवा गन्ध में आनन्द है। पर हमें लगा सिर्फ धुआँ उड़ाने में ही कुछ मजा है। मेरे काकाजी को बीड़ी पीने की आदत थी। उन्हें और दूसरो को धुआँ उड़ाते देखकर हमें भी बीड़ी फूकने की इच्छा हुई। गाँठ में पैसे तो थे नहीं, इसलिए काकाजी पीने के बाद बीड़ी के जो टूँठ फैंक देके, हमने उन्हें चुराना शुरू किया।

पर बीड़ी के ये टूँठ हर समय मिल नहीं सकते थे और उनमें से बहुत धुआँ भी नहीं निकलता था। इसलिए नौकर की जेब में पड़े दो-चार पैसों में से हम ने बीच-बीच में एकाध पैसा चुराने की आदत डाली और हम बीड़ी खरीदने लगे। पर सवाल यह पैदा हुआ कि उसे संभाल कर रखें कहाँ। हम जानते थे कि बड़ो के देखते तो बीड़ी पी ही नहीं सकते। जैसे-तैसे दो-चार पैसे चुराकर कुछ हफ्ते काम चलाया। इसी बीच सुना एक प्रकार का पौधा होता है जिसके डंठल बीड़ी की तरह जलते हैं और फूँके जा सकते हैं। हमने उन्हें प्राप्त किया और फूँकने लगे !

पर हमें संतोष नहीं हुआ। अपनी पराधीनता हमें खलने लगी। हमें दुःख इस बात का था कि बड़ों की आज्ञा के बिना हम कुछ भी नहीं कर सकते थे। हम उब गये और हमने आत्महत्या करने का निश्चय कर लिया !

पर आत्महत्या कैसे करें? जहर कौन दें? हमने सुना कि धतूरे के बीज खाने से मृत्यु होती है। हम जंगल में जाकर बीच ले आये। शाम का समय तय किया। केदारनाथजी के मन्दिर की दीपमाला में घी चढ़ाया, दर्शन किये और एकान्त खोज लिया। पर जहर खाने की हिम्मत न हुई। अगर तुरन्त ही मृत्यु न हुई तो क्या होगा ? मरने से लाभ क्या ? क्यों न पराधीनता ही सह ली जाये ? फिर भी दो-चार बीज खाये। अधिक खाने की हिम्मत ही न पड़ी। दोनों मौत से डरे और यह निश्चय किया कि रामजी के मन्दिर जाकर दर्शन करके शान्त हो जाये और आत्महत्या की बात भूल जाये।

मेरी समझ में आया कि आत्महत्या का विचार करना सरल है, आत्महत्या करना सरल नहीं। इसलिए कोई आत्महत्या करने का धमकी देता है, तो मुझ पर उसका बहुत कम असर होता है अथवा यह कहना ठीक होगा कि कोई असर होता ही नहीं।

आत्महत्या के इस विचार का परिणाम यह हुआ कि हम दोनों जूठी बीड़ी चुराकर पीने की और नौकर के पैसे चुराकर पैसे बीड़ी खरीदने और फूँकने की आदत भूल गये। फिर कभी बड़ेपन में पीने की कभी इच्छा नहीं हुई।

। मैंने हमेशा यह माना है कि यह आदत जंगली, गन्दी और हानिकारक हैं। दुनिया में बीड़ी का इतना जबरदस्त शौक क्यों है, इसे मैं कभी समझ नहीं सका हूँ। रेलगाड़ी के जिस डिब्बे में बहुत बीड़ी पी जाती है, वहाँ बैठना मेरे लिए मुश्किल हो जाता है और धुँए से मेरा दम घुटने लगता है।

बीड़ी के ठूँठ चुराने और इसी सिलसिले में नोकर के पैसे चुराने की के दोष की तुलना में मुझसे चोरी का दूसरा जो दोष हुआ उसे मैं अधिक गम्भीर मानता हूँ। बीड़ी के दोष के समय मेरी उमर बारह तेरह साल की रही होगी; शायद इससे कम भी हो। दूसरी चोरी के समय मेरी उमर पन्द्रह साल की रही होगी। यह चोरी मेरे माँसाहारी भाई के सोने के कड़े के टुकड़े की थी। उन पर मामूली सा, लगभग पच्चीस रुपये का कर्ज हो गया था। उसकी अदायगी के बारे में हम दोनों भाई सोच रहे थे। मेरे भाई के हाथ में सोने का ठोस कड़ा था। उसमें से एक तोला सोना काट लेना मुश्किल न था।

कड़ा कटा। कर्ज अदा हुआ। पर मेरे लिए यह बात असह्य हो गयी। मैंने निश्चय किया कि आगे कभी चोरी करूँगा ही नहीं। मुझे लगा कि पिताजी के सम्मुख अपना दोष स्वीकार भी कर लेना चाहिये। पर जीभ न खुली। पिताजी स्वयं मुझे पीटेंगे, इसका डर तो था ही नहीं। मुझे याद नहीं पड़ता कभी हममें से किसी भाई को पीटा हो। पर खुद दुःखी होंगे, शायद सिर फोड़ लें। मैंने सोचा कि यह जोखिम उठाकर भी दोष कबूल कर लेना चाहिये, उसके बिना शुद्धि नहीं होगी।

आखिर मैंने तय किया कि चिट्ठी लिख कर दोष स्वीकार किया जाये और क्षमा माँग ली जाये। मैंने चिट्ठी लिखकर हाथोहाथ दी। चिट्ठी में सारा दोष स्वीकार किया और सजा चाही। आग्रहपूर्वक बिनती की कि वे अपने को दुःख में न डालें और भविष्य में फिर ऐसा अपराध न करने की प्रतिज्ञा की।

मैंने काँपते हाथों चिट्ठी पिताजी के हाथ में दी। मैं उनके तख्त के सामने बैठ गया। उन दिनों वे भगन्दर की बीमारी से पीड़ित थे, इस कारण बिस्तर पर ही पड़े रहते थे। खटिया के बदले लकड़ी का तख्त काम में लाते थे।

उन्होंने चिट्ठी पढ़ी। आँखों से मोती की बूँदे टपकी। चिट्ठी भीग गयी। उन्होंने क्षण भर के लिए आँखें मूंदी, चिट्ठी फाड़ डाली और स्वयं पढ़ने के लिए उठ बैठे थे, सो वापस लेट गये।

मैं भी रोया। पिताजी का दुःख समझ सका। अगर मैं चित्रकार होता, तो वह चित्र आज भी सम्पूर्णता से खींच सकता। आज भी वह मेरी आँखों के सामने इतना स्पष्ट है।

मोती की बूँदों के उस प्रेमबाण ने मुझे बेध डाला। मैं शुद्ध बना। इस प्रेम को तो अनुभवी ही जान सकता है।

राम-बाण वाग्याँ रे होय ते जाणे ।

(राम की भक्ति का बाण जिसे लगा हो, वही इसके प्रभाव को जान सकता है।)

इस प्रकार की शान्त क्षमा पिताजी के स्वभाव के विरुद्ध थी। मैंने सोचा था कि वे क्रोध करेंगे, शायद अपना सिर पीट लेंगे। पर उन्होंने इतनी अपार शान्ति जो धारण की, मेरे विचार उसका कारण अपराध की सरल स्वीकृति थी। जो मनुष्य अधिकारी के सम्मुख स्वेच्छा से और निष्कपट भाव से अपराध स्वीकार कर लेता है और फिर कभी वैसा अपराध न करने की प्रतिज्ञा करता है, वह शुद्धतम प्रायश्चित्त करता है। मैं जानता हूँ कि मेरी इस स्वीकृति से पिताजी मेरे विषय में निर्भय बने और उनका महान प्रेम और भी बढ़ गया।

३. धर्म की झाँकी

छह या सात साल से लेकर सोलह साल की उमर तक मैंने पढ़ाई की, पर स्कूल में कहीं भी धर्म की शिक्षा नहीं मिली। यों कह सकते हैं कि शिक्षकों से जो आसानी से मिलना चाहिये था वह नहीं मिला। फिर भी वातावरण से कुछ-न-कुछ तो मिलता ही रहा। यहाँ धर्म का उदार अर्थ करना चाहिये। धर्म अर्थात् आत्म-बोध, आत्म-ज्ञान।

मैं वैष्णव सम्प्रदाय में जन्मा था, इसलिए हवेली (मंदिर) में जाने के प्रसंग बार-बार आते थे। पर उसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई। हवेली का वैभव मुझे अच्छा नहीं लगा। हवेली में चलने वाली अनीति की बातें सुनकर उसके प्रति उदासिन बन गया। वहाँ से मुझे कुछ भी न मिला।

पर जो हवेली से न मिला, वह मुझे अपनी दाई रम्भा से मिला। रम्भा हमारे परिवार की पुरानी नौकरानी थी। उसका प्रेम मुझे आज भी याद है। मैं भूत-प्रेत आदि से डरता था। रम्भा ने मुझे समझाया कि इसकी दवा राम-नाम है। मुझे तो राम-नाम से भी अधिक श्रद्धा रम्भा पर थी, इसलिए बचपन में भूत-प्रेतादि के भय से बचने के लिए मैंने रामनाम जपना शुरू किया। यह जप बहुत समय तक नहीं चला। पर बचपन में जो बीच बोया गया, वह नष्ट नहीं हुआ। आज राम-नाम मेरे लिए अमोघ शक्ति है। मैं मानता हूँ कि उसके मूल में रम्भाबाई का बोया हुआ बीज है।

इसी बीच मेरे चाचाजी के एक लड़के ने, जो रामायण के भक्त थे, हम दो भाईयों को राम-रक्षा का पाठ सिखाने का व्यवस्था की। हमने उसे कण्ठाग्र कर लिया और स्नान के बाद उसके नित्यपाठ का नियम बनाया। जब तक पोरबन्दर रहे, यह नियम चला। राजकोट के वातावरण में यह टिक न सका। इस क्रिया के प्रति भी खास श्रद्धा नहीं था। अपने बड़े भाई के लिए मन में जो आदर था उसके कारण और कुछ शुद्ध उच्चारणों के साथ राम-रक्षा का पाठ कर पाते हैं इस अभिमान के कारण पाठ चलता रहा।

पर जिस चीज का मेरे मन पर गहरा असर पड़ा, वह था रामायण का पारायण। पिताजी की बीमारी का कुछ समय पोरबन्दर में बीता था। वहाँ वे रामजी के मन्दिर में रोज रात के समय रामायण सुनते थे। सुनानेवाले थे बीलेश्वर के लाधा महाराज नामक एक पंडित थे। वे रामचन्द्रजी के परम भक्त थे। उनके बारे में कहा जाता था कि उन्हें कोढ़ की बीमारी हुई तो उसका इलाज करने के बदले उन्होंने बीलेश्वर महादेव पर चढ़े हुए बेलपत्र लेकर कोढ़ वाले अंग पर बाँधे और केवल रामनाम का जप शुरू किया। अन्त में उनका कोढ़ जड़मूल से नष्ट हो गया। यह बात सच हो या न हो, हम सुनने वालों ने तो सच ही मानी। यह सच भी है कि जब लाधा महाराज ने कथा शुरू की तब उनका शरीर बिल्कुल नीरोग था। लाधा महाराज का कण्ठ मीठा था। वे दोहा-चौपाई गाते और उसका अर्थ समझाते थे। स्वयं उसके रस में लीन हो जाते थे। और श्रोताजनों को भी लीन कर देते

थे। उस समय मेरी उमर तेरह साल की रही होगी, पर याद पड़ता है कि उनके पाठ में मुझे खूब रस आता था। यह रामायण-श्रवण रामायण के प्रति मेरे अत्याधिक प्रेम की बुनियाद है। आज मैं तुलसीदास की रामायण को भक्ति मार्ग का सर्वोत्तम ग्रंथ मानता हूँ।

कुछ महीनों के बाद हम राजकोट आये। वहाँ रामायण का पाठ नहीं होता था। एकादशी के दिन भागवत जरूर पढ़ी जाती थी। मैं कभी-कभी उसे सुनने बैठता था। पर भटजी रस उत्पन्न नहीं कर सके। आज मैं यह देख सकता हूँ कि भागवत एक ऐसा ग्रंथ है, जिसके पाठ से धर्म-रस उत्पन्न किया जा सकता है। मैंने तो उसे गुजराती में बड़े रस के साथ पढ़ा है। लेकिन इक्कीस दिन के अपने उपवास काल में भारत-भूषण पंडित मदनमोहन मालवीयजी के श्रीमुख से मूल संस्कृत के कुछ अंश जब सुने तो ख्याल हुआ कि बचपन में उनके समान भगवद्-भक्त के मुँह से भागवत सुना होता तो उस पर उसी उम्र में मेरा गाढ़ प्रेम हो जाता। बचपन में पड़े शूभ-अशुभ संस्कार बहुत गहरी जड़े जमाते हैं, इसे मैं खूब अनुभव करता हूँ; और इस कारण उस उम्र में मुझे कई उत्तम ग्रंथ सुनने का लाभ नहीं मिला, सो अब अखरता है।

राजकोट में मुझे अनायास ही सब सम्प्रदायों के प्रति समान भाव रखने की शिक्षा मिली। मैंने हिन्दू धर्म के प्रत्येक सम्प्रदाय का आदर करना सीखा, क्योंकि माता-पिता वैष्णव-मन्दिर में, शिवालय में और राम-मन्दिर में भी जाते और हम भाईयों को भी साथ ले जाते या भेजा करते थे।

फिर पिताजी के पास जैन धर्माचार्यों में से भी कोई न कोई हमेशा आते रहते थे। पिताजी के साथ धर्म और व्यवहार की बातें किया करते थे। इसके सिवा, पिताजी के मुसलमान और पारसी मित्र भी थे। वे अपने-अपने धर्म की चर्चा करते और पिताजी उनकी बातें सम्मानपूर्वक सुना करते थे। 'नर्स' होने के कारण ऐसी चर्चा के समय मैं अक्सर हाजिर रहता था। इस सारे वातावरण का प्रभाव मुझ पर यह पड़ा कि मुझ में सब धर्मों के लिए समान भाव पैदा हो गया।

इसमें केवल एक ईसाई धर्म अपवादरूप था। उसके प्रति कुछ अरुचि थी। उन दिनों कुछ ईसाई हाईस्कूल के कोने पर खड़े होकर व्याख्यान दिया करते थे। वे हिन्दू देवताओं की और हिन्दू धर्म को मानने वालों की बुराई करते थे। मुझे यह असह्य मालूम हुआ। मैं एकाध बार ही व्याख्यान सुनने के लिए खड़ा हुआ होऊँगा। पर दूसरी बार फिर वहाँ खड़े रहने की इच्छा ही न हुई। उन्ही दिनों एक प्रसिद्ध हिन्दू के ईसाई बनने की बात सुनी। गाँव में चर्चा थी कि उन्हें ईसाई धर्म की दीक्षा देते समय गोमांस खिलाया गया और शराब पिलायी गयी। उनकी पोशाक भी बदल दी गयी और ईसाई बनने के बाद वे भाई कोट-पतलून और अंग्रेजी टोपी पहनने लगे। इन बातों से मुझे पीड़ा पहुँची। जिस धर्म के कारण गोमांस खाना पड़े, शराब पीनी पड़े और अपनी पोशाक बदलनी पड़े, उसे धर्म कैसे कहा जाय? मेरे मन ने यह दलील की। फिर यह भी सुनने में आया कि जो भाई ईसाई बने थे, उन्होंने अपने पूर्वजों के धर्म की, रीति-रिवाजों और देश की निन्दा करना शुरू कर दिया था। इन सब बातों से मेरे मन में ईसाई धर्म के प्रति अरुचि उत्पन्न हो गयी।

इस तरह यद्यपि अन्य धर्मों के प्रति समभाव जागा, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि मुझ में ईश्वर के प्रति आस्था थी। इन्हीं दिनों पिताजी के पुस्तक-संग्रह में से मनुस्मृति की भाषान्तर मेरे हाथ में आया। उसमें संसार की उत्पत्ति आदि की बातें पढ़ी। उन पर श्रद्धा नहीं जमी, उलटे थोड़ी नास्तिकता ही पैदा हुई। मेरे चाचाजी के लड़के की, जो अभी जीवित हैं, बुद्धि पर मुझे विश्वास था। मैंने अपनी शंकाये उनके सामने रखी, पर वे मेरा समाधान न कर सके। उन्होंने मुझे उत्तर दिया : 'सयाने होने पर ऐसे प्रश्नों के उत्तर तुम खुद दे सकोगे। बालकों को ऐसे प्रश्न नहीं पूछने चाहिये।' मैं चुप रहा। मन को शान्ति नहीं मिली। मनुस्मृति के खाद्य-विषयक प्रकरण में और दूसरे प्रकरणों में भी मैंने वर्तमान प्रथा का विरोध पाया। इस शंका का उत्तर भी मुझे लगभग ऊपर के जैसा ही मिला। मैंने यह सोचकर अपने मन को समझा लिया कि 'किसी दिन बुद्धि खुलेगी, अधिक पढ़ूँगा और समझूँगा।'

उस समय मनुस्मृति को पढ़कर मैं अहिंसा तो सीख ही न सका। मांसाहार की चर्चा हो चुकी है। उसे मनुस्मृति का समर्थन मिला। यह भी ख्याल हुआ कि सर्पादि और खटमल आदि को मारनी नीति है। मुझे याद है कि उस समय मैंने धर्म समझकर खटमल आदि का नाश किया था।

पर एक चीज ने मन में जड़ जमा ली - यह संसार नीति पर टिका हुआ है। नीतिमात्र का समावेश सत्य में है। सत्य की खोज करनी ही होगी। दिन-पर-दिन सत्य की महिमा मेरे निकट बढ़ती गयी। सत्य की व्याख्या विस्तृत होती गयी, और अभी हो रही है।

फिर नीति का एक छप्पय दिल में बस गया। अपकार का बदला अपकार नहीं, उपकार ही हो सकता है, यह एक जीवन सूत्र ही बन गया। उसने मुझ पर साम्राज्य चलाना शुरू किया। अपकारी का भला चाहना और करना, इसका मैं अनुरागी बन गया। इसके अनगिनत प्रयोग किये। वह चमत्कारी छप्पय यह है :

पाणी आपने पाए, भलुं भोजन तो दीजे,

आवी नमावे शीश, दंडवत कोडे कीजे।

आपण घासे दाम, काम महोरो नुं करीए,

आप उगारे प्राण, ते तणा दुःख मां मरीए।

गुण केडे तो गुण दश गणों, मन, वाचा, कर्म करी

अवगुण केडे जे गुण करे, ते जगमां जीत्यो सही।*

*(जो हमें पानी पिलाये, उसे हम अच्छा भोजन कराये। जो हमारे सामने सिर नवाये, उसे हम उमंग से दण्डवत् प्रणाम करे। जो हमारे लिए एक पैसा खर्च करे, उसका हम मुहों की कीमत का काम कर दे। जो हमारे प्राण बचाये, उसका दुःख दूर करने के लिए हम अपने प्राणों तक निछावर कर दे। जो हमारी उपकार करे, उसका हमें मन, वचन और कर्म से दस गुना उपकार करना ही चाहिये। लेकिन जग में सच्चा और सार्थक जीना उसी का है, जो अपकार करने वाले के प्रति भी उपकार करता है।)

४. सेवा-वृत्ति

वकालत का मेरा धन्धा अच्छा चल रहा था, पर उससे मुझे संतोष नहीं था। जीवन अधिक सादा होना चाहिये, कुछ शारीरिक सेवा-कार्य होना चाहिये, यह मन्थन चलता ही रहता था।

इतन में एक दिन कोढ़ से पीड़ित एक अपंग मनुष्य मेरे घर आ पहुँचा। उसे खाना देकर बिदा कर देने के लिए दिल तैयार न हुआ। मैंने उसको एक कोठरी में ठहराया, उसके घांव साफ किये और उसकी सेवा की।

पर यह व्यवस्था अधिक दिन तक चल न सकती थी। उसे हमेशा के लिए घर में रखने की सुविधा मेरे पास न थी, न मुझमें इतनी हिम्मत ही थी। इसलिए मैंने उसे गिरमिटियों के लिए चलनेवाले सरकारी अस्पताल में भेज दिया।

पर इससे मुझे तृप्ति न हुई। मन में हमेशा यह विचार बना रहता कि सेवा-शुश्रूषा का ऐसा कुछ काम मैं हमेशा करता रहूँ, तो कितना अच्छा हो! डॉक्टर बूथ सेंट एडम्स मिशन के मुखिया थे। वे हमेशा अपने पास आनेवालों को मुफ्त दवा दिया करते थे। बहुत भले और दयालु आदमी थे। पारसी रुस्तमजी की दानशीलता के कारण डॉ. बूथ की देखरेख में एक बहुत छोटा अस्पताल खुला। मेरी प्रबल इच्छा हुई कि मैं इस अस्पताल में नर्स का काम करूँ। उसमें दवा देने के लिए एक से दो घंटों का काम रहता था। उसके लिए दवा बनाकर देनेवाले किसी वेतनभोगी मनुष्य की स्वयंसेवक की आवश्यकता थी। मैंने यह काम अपने जिम्मे लेने और अपने समय में से इतना समय बचाने का निर्णय किया। वकालत का मेरा बहुत-सा काम तो दफ्तर में बैठकर सलाह देने, दस्तावेज तैयार करने अथवा झगड़ों का फैसला करने का होता था। कुछ मामले मजिस्ट्रेट की अदालत में चलते थे। इनमें से अधिकांश विवादास्पद नहीं होते थे। ऐसे मामलों को चलाने की जिम्मेदारी मि. खान ने, जो मुझसे बाद में आये थे और जो उस समय मेरे साथ ही रहते थे, अपने सिर पर ले ली और मैं उस छोटे-से अस्पताल में काम करने लगा।

रोज सबेरे वहाँ जाना होता था। आने-जाने में और अस्पताल का काम करने प्रतिदिन लगभग दो घंटे लगते थे। इस काम से मुझे थोड़ी शान्ति मिली। मेरा काम बीमार की हालत समझकर उसे डॉक्टर को समझाने और डॉक्टर की लिखी दवा तैयार करके बीमार को दवा देने का था। इस काम से मैं दुखी-दर्दी हिन्दुस्तानियों के निकट सम्पर्क में आया। उनमें से अधिकांश तामिल, तेलगू अथवा उत्तर हिन्दुस्तान के गिरमिटिया होते थे।

यह अनुभव मेरे भविष्य में बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ। बोअर-युद्ध के समय घायलों की सेवा-शुश्रूषा के काम में और दूसरे बीमारों की परिचर्या में मुझे इससे बड़ी मदद मिली।

इस प्रकार सेवा द्वारा लोगों के निकट परिचय में आना शुरू हुआ। उसके साथ ही सादगी की ओर भी झुकाव बढ़ा।

यद्यपि मेरा रहन-सहन शुरू में कुछ ठाठ-बाट का था, परन्तु उसका मोह मुझे नहीं हुआ। इसलिए घर बसाने के साथ ही मैंने खर्च कम करना शुरू कर दिया। धोबी का खर्च कुछ ज्यादा मालूम हुआ। धोबी निश्चित समय पर कपड़े नहीं लौटाता था। इसलिए दो-तीन दर्जन कमीजों और उतने कालरों से भी मेरा काम चल नहीं पाता था। कमीज रोज नहीं तो एक दिन के अन्तर से बदलता था। इससे दोहरा खर्च होता था। मुझे यह व्यर्थ प्रतीत हुआ। अतएव मैंने धुलाई का सामान जुटाया। धुलाई-विद्या पर पुस्तक पढ़ी, धोना सीखा और पत्नी को भी सिखा दिया। काम का बोझ तो बढ़ा ही, पर नया काम होने से उसे करने में आनन्द आता था।

पहली बार अपने हाथों से धोये हुए कालर तो मैं कभी भूल नहीं सकता। उसमें कलफ अधिक लग गया था और इस्तरी पूरी गरम नहीं थी। उस पर कालर के जल जाने के डर से इस्तरी को मैंने अच्छी तरह दबाया भी नहीं था। इससे कालर में कड़ापन तो आ गया, पर उसमें से कलफ झड़ता रहता था।

ऐसी हालत में मैं कोर्ट गया और वहाँ के बारिस्टरों के लिए मजाक का साधन बन गया। पर इस तरह का मजाक सह लेने की शक्ति उस समय भी मुझ में काफी थी।

मैंने सफाई देते हुए कहा, “अपने हाथों कालर धोने का मेरा यह पहला प्रयोग है, इस कारण इसमें से कलफ झड़ता है। मुझे इससे कोई अड़चल नहीं होती, फिर आप सब लोगों के लिए विनोद की इतनी साम्रगी जुटा रहा हूँ।”

एक मित्र ने पूछा, 'पर क्या धोबियों का अकाल पड़ गया है?'

'यहां धोबी का खर्च मुझे तो असह्य मालूम होता है। कालर की कीमत के बराबर धुलाई हो जाती है और इतनी धुलाई देने के बाद भी धोबी की गुलामी करनी पड़ती है। इसकी अपेक्षा अपने हाथ से धोना मैं ज्यादा पसन्द करता हूँ।'

स्वावलम्बन की यह खूबी मैं मित्रों को समझा नहीं सका।

मुझे कहना चाहिये कि आखिर धोबी के धंधे में अपने काम लायक कुशलता मैंने प्राप्त कर ली थी और घर की धुलाई धोबी की धुलाई से जरा भी घटिया नहीं होती थी। कालर का कड़ापन और चमक धोबी के धोये कालर से कम न रहती थी।

गोखले^१ के पास स्व. महादेव गोविन्द रानडे^२ की प्रसादी-रूप में एक दुपटा था। गोखले उस दुपट्टे को बड़े जतन से रखते थे और विशेष अवसर पर ही उसका उपयोग करते थे। जोहान्सबर्ग^३ में उनके सम्मान में जो भोज दिया गया था, वह एक महत्त्वपूर्ण अवसर था। उस अवसर पर उन्होंने जो भाषण दिया वह दक्षिण अफ्रीका में उनका सबसे महत्त्वपूर्ण भाषण था। अतएव उस अवसर पर उन्हें उक्त दुपट्टे का उपयोग करना था। उसमें सिलवटे पड़ी हुई थी और उस पर इस्तरी करने की जरूरत थी। धोबी का पता लगाकर उससे तुरन्त इस्तरी कराना सम्भव न था। मैंने अपनी कला का उपयोग करने देने की अनुमति गोखले से चाही।

'मैं तुम्हारी वकालत का तो विश्वास कर लूँगा, पर इस दुपट्टे पर तुम्हें अपनी धोबी-कला का उपयोग नहीं करने दूँगा। इस दुपट्टे पर तुम दाग लगा दो तो? इसकी कीमत जानते हो?' यो कहकर अत्यन्त उल्लास से उन्होंने उस प्रसादी की कथा मुझे सुनायी।

मैंने फिर भी बिनती की और दाग न पड़ने देने की जिम्मेदारी ली। मुझे इस्तरी करने की अनुमति मिली और बाद में अपनी कुशलता का प्रमाण-पत्र मुझे मिल गया! अब दुनिया मुझे प्रमाण-पत्र न दे तो भी क्या?

१. श्री गोपालकृष्ण गोखले लोकमान्य तिलक के समकालीन और कांग्रेस नरम दल के एक बड़े नेता थे। गांधीजी उन्हें अपना राजनैतिक गुरु मानते थे।
२. स्व. रानडे गोखले के राजनैतिक गुरु थे और उस समय की महाराष्ट्र की राजनीति के सब लोग इनकी महानता को मानते थे।
३. दक्षिण अफ्रीका का एक नगर।

५. अदभुत त्याग

अक्सर सामान्य पाठ्य-पुस्तकों से हमें अचूक उपदेश मिल जाते हैं। इन दिनों मैं उर्दू की रीडरें पढ़ रहा हूँ। उनमें कोई-कोई पाठ बहुत सुन्दर दिखाई देते हैं। ऐसे एक पाठ का असर मुझ पर तो भरपूर हुआ है। दूसरों पर भी वैसा ही हो सकता है। अतः उसका सार यहां दिये देता हूँ।

पैगंबर साहब के देहान्त के बाद कुछ ही बरसों में अरबों और रुमियों (रोमनों) के बीच महासंग्राम हुआ। उसमें दोनों पक्ष के हजारों योद्धा खेत रहे, बहुत से जख्मी भी हुए। शाम होने पर आमतौर से लड़ाई बंद हो जाती थी। एक दिन जब इस तरह लड़ाई बंद हुई तो अरब सेना का एक अरब अपने चचेरे भाई को ढूंढने निकला। उसकी लाश मिल लाय तो दफनाये और जिंदा मिले तो सेवा करे। शायद वह पानी के लिए तड़प रहा हो, यह सोचकर उसने अपने साथ लोटा भर पानी भी ले लिया।

तड़पते घायल सिपाहियों के बीच वह लालटेन लिये देखता जा रहा था। उसका भाई मिल गया और सचमुच ही उसे पानी की रट लग रही थी। जख्मों से खून बह रहा था। उसके बचने की आशा थोड़ी ही थी। भाई ने पानी का लोटा उसके पास रख दिया। इतने में किसी दूसरे घायल की 'पानी-पानी' की पुकार सुनाई दी। अतः उस दयालु सिपाही ने अपने भाई से कहा, "पहले उस घायल को पानी पिला आओ, फिर मुझे पिलाना।" जिस ओर से आवाज आ रही थी, उस ओर यह भाई तेजी से कदम बढ़ाकर पहुंचा।

यह जख्मी बहुत बड़ा सरदार था। उक्त अरब उसको पानी पिलाने और सरदार पीने को ही था कि इतने में तीसरी दिशा से पानी की पुकार आई। यह सरदार पहले सिपाही के बराबर ही परोपकारी था। अतः बड़ी कठिनाई से कुछ बोलकर और कुछ इशारे से समझाया कि पहले जहां से पुकार आई है, वहां जाकर पानी पिला आओ। निःश्वास छोड़ते हुए यह भाई तेजी से दौड़कर जहां से आवाज आ रही थी वहां पहुंचा। इतने में इस घायल सिपाही ने आखिरी सांस ले ली और आंखें मूंद लीं। उसे पानी न मिला। अतः यह भाई उक्त जख्मी सरदार जहां पड़ा था, वहां झटपट पहुंचा; पर देखता है तो उसकी आंखें भी तब तक मूंद चुकी थीं। दुःखभरे हृदय से खुदा की बंदगी करता हुआ वह अपने भाई के पास पहुंचा तो उसकी नाड़ी भी बंद पाई, उसके प्राण भी निकल चुके थे।

यों तीन घायलों में किसी ने भी पानी न पाया; पर पहले दो अपने नाम अमर करके चले गये। इतिहास के पन्नों में ऐसे निर्मल त्याग के दृष्टांत तो बहुतेरे मिलते हैं। उनका वर्णन जोरदार कलम से किया गया हो तो उसे पढ़कर हम दो बूंद आंसू भी गिरा देते हैं; पर ऊपर जो अद्भुत दृष्टांत दिया गया है, उसके देने का हेतु तो यह है कि उक्त वीर पुरुषों के जैसा त्याग हममें भी आये और जब हमारी परीक्षा का समय आये तब दूसरे को पानी पिलाकर पियें, दूसरे को जिलाकर जियें और दूसरे को जिलाने में खुद मरना पड़े तो हंसते चेहरे से कूच कर जायें।

मुझे ऐसा जान पड़ता है कि पानी की परीक्षा से कठिनतर परीक्षा एकमात्र हवा की है। हवा के बिना तो आदमी एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता। इसी से संपूर्ण जगत हवा से घिरा हुआ जान पड़ता है। फिर भी कभी-कभी ऐसा भी वक्त आता है जब अलमारी-जैसी कोठरी के अंदर बहुत से आदमी ठूस दिये गए हों, एक ही सूराख से थोड़ी सी हवा आ रही हो, उसे जो पा सके, वही जिये, बाकी लोग दम घुटकर मर जायें। हम भगवान से प्रार्थना करें कि ऐसा समय आये तो हम हवा को जाने दें।

हवा से दूसरे नम्बर पानी की आवश्यकता-प्यास है। पानी के प्याले के लिए मनुष्यों के एक-दूसरे से लड़ने-झगड़ने की बात सुनने में आई है। हम यह इच्छा करें कि ऐसे मौकों पर उक्त बहादुर अरबों का त्याग हममें आये | पर ऐसी अग्निपरीक्षा तो किसी एक की ही होती है | सामान्य परीक्षा हम सबकी रोज हुआ करती है। हम सबको अपने-आप से पूछना चाहिए - "जब-जब वैसा अवसर आता है तब-तब क्या हम अपने साथियों, पड़ोसियों को आगे करके खुद पीछे रहते हैं?" न रहते हों तो हम नापाक हुए, अहिंसा का पहला पाठ हमें नहीं आता।

६. शुद्ध न्याय

साक्रेटीज (सुकरात)^१ एथेंस (यूनान का एक नगर) का एक बुद्धिमान पुरुष हो गया है। उसके नए, पर नीतिवर्धक विचार राज्य के अधिकारियों को न रुचे। इसलिए उसे मौत की सजा मिली। उस ज़माने में उस देश में विषपान कराकर मरने की सजा भी दी जाती थी। साक्रेटीज को भी मीराबाई की तरह जहर का प्याला पीने के लिए दिया गया था। उस पर मुक़दमा चलाया गया। उस वक्त साक्रेटीज ने जो अंतिम वचन कहे उनके सर पर विचार करना है। वह हम सबके लिए शिक्षा लेने लायक है। साक्रेटीज को हम सुकरात कहते हैं, अरब भी उसे इसी नाम से पुकारते हैं।

सुकरात ने कहा, “मेरा दृढ़ विश्वास है की भले आदमी का इस लोक या परलोक में अहित होता ही नहीं। भले आदमियों और उनके साथियों का ईश्वर कभी त्याग नहीं करता। फिर मैं तो यह भी जानता हूँ कि मेरी या किसी की भी मौत अचानक नहीं आती। मृत्युदंड मेरे लिए सजा नहीं है। मेरे मरने और उपाधि से मुक्त होने का समय आ गया है। इसी से आपने मुझे जहर का प्याला दिया है। इसी में मेरी भलाई होगी और इससे मुझ पर अभियोग लगानेवालों या मुझे सजा देनेवालों के प्रति मेरे मन में क्रोध नहीं है। उन्होंने भले ही मेरा भला न चाहा हो, पर वे मेरा अहित न कर सके।”

“महाजन-मंडल से मेरी एक विनती है – मेरे बेटे अगर भलाई का रास्ता छोड़कर कुमार्ग में जाएँ और धन के लोभी हो जाएँ तो जो सजा आप मुझे दे रहे हैं वही उन्हें भी दें। वे दंभी हो जाएँ, जैसे न हों वैसा दिखने की कोशिश करें, तो भी उनको दंड दें। आप ऐसा करेंगे तो मैं और मेरे बेटे मानेंगे कि आपने शुद्ध न्याय किया।”

अपनी संतान के विषय में सुकरात की यह माँग अद्भुत है। जो महाजन-मंडल न्याय करने को बैठा था वह अहिंसा-धर्म को तो जानता ही न था। इससे सुकरात ने अपनी संतान के बारे में उपर्युक्त प्रार्थना की, अपनी संतान को चेताया और उससे उसने क्या आशा रखी थी, यह बताया। महाजनों को मीठी फटकार बताई, क्योंकि उन्होंने सुकरात को उसकी भलमानसी के लिए सजा दी थी। सुकरात ने अपने बेटों को अपने रास्ते पर चलने की सलाह देकर यह जताया कि जो रास्ता उसने एथेंस के नागरिकों को बताया वह उसके लड़कों के लिए भी है और अगर वे उस रास्ते पर न चलें तो दंड के योग्य समझे जाएँ।

१. ईसा से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व

७. वाचन और विचार

पाठशालाओं में हम पढ़ते हैं – “वाचन मिथ्या बिना विचार |” यह उक्ति शब्दशः सत्य है | हमें किताबें पढ़ने का शौक हो तो यह अच्छा कहा जाएगा | आलस्यवश जो पढ़ता नहीं, बाँचता नहीं वह अवश्य मूढ़ मन जाएगा; पर जो खाली पढ़ा ही करता है, विचार नहीं करता, वह भी लगभग मूढ़-जैसा ही रहता है | इस पढ़ाई के एवज में कितने ही आँख खो बैठते हैं, वह अलग है | निरा वाचन एक प्रकार का रोग है |

हममें बहुतेरे निरी पढ़ाई करनेवाले होते हैं | वे पढ़ते हैं; पर गुनते नहीं; विचारते नहीं | फलतः पढ़ी हुई चीज पर अमल वे क्यों करने लगे? इससे हमें चाहिए कि थोड़ा पढ़े, उस पर विचार करें और उस पर अमल करें | अमल करते वक्त जो ठीक न जन पड़े उसे छोड़ दें और आगे बढ़े | ऐसा करनेवाला थोड़ी पढ़ाई से अपना कम चला सकता है, बहुत-सा समय बचा लेता है और मौलिक कार्य करने की जिम्मेदारी उठाने के योग्य बनता है |

जो विचार करना सीख लेता है उसको एक लाभ और होता है; जो उल्लेखनीय है | पढ़ने को हमेशा नहीं मिल सका | देखने में आता है कि जिसे पढ़ने की आदत पड़ गई हो उसे पढ़ने को न मिले तो वह परेशान हो जाता है | पर विचार करने की आदत पड़ जाए तो उसके पास विचार-पोथी तो प्रस्तुत रहती ही है, अतः उसे परेशानी में नहीं पड़ना पड़ता |

‘विचार करना सीखना’, यह शब्द-प्रयोग मैंने जान-बुझकर किया है | सही-गलत, निकम्मे विचार तो बहुतेरे किया करते हैं, वह पागलपन है | कितने ही विचारों के भँवर में पड़कर निराश हो जाते और आत्मघात भी कर बैठते हैं | ऐसे विचार की बात यहाँ नहीं की जा रही है | इस समय तो मेरा तात्पर्य पढ़े हुए पर विचार करने से है | मन लीजिए कि आज हमने एक भजन सुना या पढ़ा, उसका विचार करना | उसमें क्या रहस्य है, उससे मुझे क्या लेना है, इसकी छानबीन करना, उसमें दोष हों तो उन्हें देखना, अर्थ न समझ में आया हो तो उसे समझना – यह विचार-पद्धति कही जाएगी | यह मैंने सादे-से-सादा दृष्टांत लिया है | इसमें से हरेक अपनी शक्ति-सामर्थ्य के अनुसार दूसरा दृष्टांत घटित कर ले और आगे बढ़े | ऐसा करनेवाला अंत में आत्मिक आनंद भोगेगा और उसका सारा वाचन फलेगा |

“उठ जाग मुसाफिर भोर भई अब रैन कहाँ जो सोवत है?” – अरे मुसाफिर, उठ | सवेरा हुआ | अब रात कहाँ जो तू सोता है? इतना समझकर जो बैठ जाता है उसने पढ़ा पर विचार नहीं किया; क्योंकि वः सवेरे के समय उठकर ही अपने-आपको कृतार्थ मान लेता है | पर जो विचार करना चाहता है वह तो अपने-आप से पूछता है-मुसाफिर यानि कौन? सवेरा हुआ के मानी क्या हुआ? रातगई यानी? सोना क्या है? यों सोचे तो रोज एक पंक्ति के अनेक अर्थ निकाल ले और समझे की मुसाफिर यानी जीवमात्र | जिसे ईश्वर पर आस्था है उसके लिए सदा सवेरा ही है | रात के मानी आराम भी हो सकता है और जो जरा भी गाफिल-लापरवाह-रहता है, उस पर यह पंक्ति घटित होती है | जो झूठ बोलता है वह भी सोया हुआ है | यह पंक्ति उसे भी जगानेवाली है | यों उससे व्यापक अर्थ निकालकर आश्वासन प्राप्त किया जा सकता है | यानी एक पंक्ति का ध्यान मनुष्य के लिए आत्मिक

उन्नति का पूरा सहारा हो सकता है और चारों वेद कंठ कर जानेवाले और उसका अर्थ भी जाननेवाले के लिए यह बोझ रूप बन सकता है | यह तो मैंने एक जबान पर चढ़ी हुई मिसाल दे दी है | सब अपनी-अपनी दिशा चुनकर विचार करने लग जाएँ तो जीवन में नया अर्थ निकालेंगे और नित्य नया रस लूटेंगे |

८. शरीर

शरीर के परिचय से पहले आरोग्य किसे कहते हैं, यह समझ लेना ठीक होगा। आरोग्य के मानी हैं तन्दुरुस्त शरीर। जिसका शरीर व्याधि-रहित है, जिसका शरीर सामान्य काम कर सकता है, अर्थात् जो मनुष्य बगैर थकान के रोज दस-बारह मील चल सकता है, जो बगैर थकान के सामान्य मेहनत-मजदूरी कर सकता है, सामान्य खुराक पचा सकता है, जिसकी इन्द्रियां और मन स्वस्थ हैं, ऐसे मनुष्यका शरीर तन्दुरुस्त कहा जा सकता है। इसमें पहलवानों या अतिशय दौड़ने-कूदनेवालों का समावेश नहीं है। ऐसे असाधारण बलवाले व्यक्ति का शरीर रोगी हो सकता है। ऐसे शरीर का विकास एकांगी कहा जायगा।

इस आरोग्य की साधना जिस शरीर को करनी है, उस शरीर का कुछ परिचय आवश्यक है।

प्राचीन काल में कैसी तालीम दी जाती होगी, यह तो विधाता ही जाने या शोध करनेवाले लोग कुछ जानते होंगे। आधुनिक तालीम का थोड़ा-बहुत परिचय हम सबको है ही। इस तालीमका हमारे दिन-प्रतिदिन के जीवन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता। शरीर से हमें सदा ही काम पड़ता है, मगर फिर भी आधुनिक तालीमसे हमें शरीरका ज्ञान नहीं-सा होता है। अपने गांव और खेतों के बारे में भी हमारे ज्ञान के यही हाल हैं। अपने गांव और खेतों के बारे में तो हम कुछ भी नहीं जानते, मगर भूगोल और खगोल को तोते की तरह रट लेते हैं। यहाँ कहनेका अर्थ यह नहीं है कि भूगोल और खगोल का कोई उपयोग नहीं है, मगर हर एक चीज अपने स्थान पर ही अच्छी लगती है। शरीरके, घरके, गांवके, गांवके चारों ओर के प्रदेशके, गांवके खेतों में पैदा होनेवाली वनस्पतियोंके और गांवके इतिहासके ज्ञान का पहला स्थान होना चाहिये। इस ज्ञान के पाये पर खड़ा दूसरा ज्ञान जीवनमें उपयोगी हो सकता है।

शरीर पंचभूतका पुतला है। इसीसे कविने गाया है :

पवन, पानी, पृथ्वी, प्रकाश और आकाश,

पंचभूत के खल से बना जगत का पाश।

इस शरीर का व्यवहार दस इन्द्रियों और मनके द्वारा चलता है। दस इन्द्रियों में पांच कर्मेन्द्रियाँ हैं, अर्थात् हाथ, पैर, मुंह, जननेन्द्रिय और गुदा। ज्ञानेन्द्रियाँ भी पांच हैं- स्पर्श करनेवाली त्वचा, देखनेवाली आंख, सुननेवाला कान, सूंघनेवाली नाक और स्वाद रसको पहचाननेवाली जीभ।

मनके द्वारा हम विचार करते हैं। कोई-कोई मन को ग्यारहवीं इन्द्रिय कहते हैं। इन सब इन्द्रियों का व्यवहार जब सम्पूर्ण रीति से चलता है, तब शरीर पूर्ण स्वस्थ कहा जा सकता है। ऐसा आरोग्य बहुत ही कम देखने में आता है।

शरीरके अन्दरके विभाग हमें चकित कर देते हैं। शरीर जगतका एक छोटा-सा मगर सम्पूर्ण नमूना है। जो शरीर में नहीं है, वह जगत में भी नहीं है। और जो जगत में है, वह शरीर में है। इसी परसे यथा पिंडे तथा ब्रह्मांडे' यह महत्त्वपूर्ण कथन निकला है। इसलिए अगर हम शरीर को पूर्णतया पहचान सकें, तो जगत को पहचान सकते हैं। मगर जब बड़े-बड़े डॉक्टर, वैद्य और हकीम भी इसे पूरी तरह नहीं पहचान पाये, तो हमारे जैसे सामान्य प्राणी भला किस गिनतीमें हैं? आज तक ऐसे किसी यन्त्र की शोध नहीं हो पाई, जो मन को पहचान सके। शरीर के अन्दर और बाहर चलनेवाली क्रियाओं का विशेषज्ञ लोक आकर्षक वर्णन दे सके हैं। मगर ये क्रियायें कैसे चलती हैं, यह कोई बता सका है? मौत क्यों आती है, वह कब आयेगी, यह कौन कह सका है? अर्थात् मनुष्य ने बहुत पढ़ा, विचार किया और अनुभव लिया, मगर परिणाम में उसको अपनी अल्पज्ञता का ही अधिक भान हुआ है।

शरीर के अन्दर चलनेवाली अद्भुत क्रियाओं पर इन्द्रियों का स्वस्थ रहना निर्भर करता है। शरीर के सब अंग नियमानुसार चलें, तो शरीर का व्यवहार अच्छी तरह से चलता है। एक भी अंग अटक जाय, तो गाड़ी चल नहीं सकती। उसमें भी पेट अपना काम ठीक तरह से न करे, तो शरीर ढीला पड़ जाता है। इसलिए अपच या कब्जियत की जो लोग अवगणना करते हैं, वे शरीरके धर्म को जानते ही नहीं। इन दो रोगों से अनेक रोग उत्पन्न होते हैं।

अब हमें सह विचार करना है कि शरीरका उपयोग क्या है?

हर एक चीज का सदुपयोग और दुरुपयोग हो सकता है। शरीर का उपयोग स्वार्थ के लिए, स्वेच्छाचार के लिए, दूसरों को नुकसान पहुंचाने के लिए किया जाय, तो वह उसका दुरुपयोग होगा। किन्तु यदि उसी शरीर का उपयोग सारे जगत की सेवा के लिए किया जाय और इस हेतुसे संयम का पालन किया जाय, तो वह उसका सदुपयोग होगा। आत्मा परमात्मा का अंश है। उस आत्मा को पहचानने के लिए अगर हम इस शरीर का उपयोग करते हैं, तो शरीर आत्मा के रहने का मन्दिर बन जाता है।

शरीरको मल-सूत्र की खान कहा गया है। एक तरह से इस उपमा में कुछ भी अतिशयोक्ति नहीं है। परन्तु यदि शरीर केवल मल-मूत्रकी खान ही हो, तो उसकी संभाल के लिए इतने प्रयत्न करना कोई अर्थ नहीं रखता। परन्तु इसी नरक की खान' का सदुपयोग हो, तो उसे साफ-सुथरा रखकर उसकी संभाल करना हमारा धर्म हो जाता है। हीरे और सोने की खान भी ऊपर से देखने पर तो मिट्टी की खान ही लगती है। पर उसमें हीरा और सोना है, इसलिए मनुष्य उस पर करोड़ों रुपये खर्च करता है और उसके पीछे अनेक शास्त्रज्ञ अपनी बुद्धि का उपयोग करते हैं। तब आत्मा के मन्दिर-रूपी शरीर के लिए तो हम जितना भी करे उतना कम है।

हम इस जगत में जन्म लेते हैं जगतके प्रति अपना ऋण चुकाने के लिए, अर्थात् उसकी सेवा के लिए। इस दृष्टिबिन्दु को सामने रखकर मनुष्य अपने शरीर का संरक्षक बनता है। इसलिए शरीर की रक्षा के लिए हमें ऐसा यत्न करना चाहिये, जिससे वह सेवार्थम का पालन पूरी तरह से कर सके।

९. हवा और पानी

हवा शरीर के लिए सबसे ज़रूरी चीज है। इसीलिए ईश्वरने हवा को सर्वव्यापी बनाया है और वह हमें बिना किसी प्रयत्न के मिल जाती है।

हवा को हम नाक के द्वारा फेफड़ों में भरते हैं। फेफड़े धौंकनी का काम करते हैं। वे हवा को अन्दर खींचते हैं और बाहर निकालते हैं। बाहर की हवा में प्राणवायु होती है। वह न मिले तो मनुष्य जिन्दा नहीं रह सकता। जो हवा फेफड़ों से बाहर आती है, वह जहरीली होती है। अगर यह जहरीली हवा तुरन्त इधर-उधर न फैल जाये, तो हम मर जायें। इसलिए घर ऐसा होना चाहिये, जिसमें हवा अच्छी तरह आ-जा सके और सूर्य-प्रकाश के आने का रास्ता भी हो।

मगर हमें फेफड़ोंमें हवा भरना और उसे बाहर निकालना ठीक तरहसे नहीं आता। इसलिए हमारे रक्तकी शुद्धि भी पूरी तरह नहीं हो पाती। हवा का काम रक्त की शुद्धि करना है कई लोग मुंह साँस लेते हैं। यह बुरी आदत है। नाक में कुदरत ने एक तरह की छलनी रखी है, जिससे हवा छनकर भीतर जाती है, और साथ ही गरम होकर फेफड़ों में पहुँचती है। मुंह से साँस लेने से हवा न तो साफ होती है और न गरम ही हो पाती है। इसलिए हर एक मनुष्य को चाहिये कि वह प्राणायाम सीख ले। यह क्रिया जितनी आसान है, उतनी ही आवश्यक भी है। प्राणायाम कई तरह के होते हैं। उन सबमें उतरने की यहां आवश्यकता नहीं है। मैं यह नहीं कहना चाहता कि उनका कोई उपयोग नहीं है। मगर जिस मनुष्य का जीवन नियम-बद्ध है, उसकी सब क्रियायें सहज रूपसे होती हैं। इससे जो लाभ होता है, वह अनेक प्रक्रियाओंके करने से भी नहीं होता।

चलते-फिरते और सोते व्रक्त अगर लोग अपना मुंह बन्द रखे, तो नाक अपना काम अपने-आप करेगी ही। सुबह उठकर जैसे हम मुंह साफ करते हैं, वैसे ही हमें नाक भी साफ करनी चाहिये। नाक में मैल हो तो उसे निकाल डालना चाहिये। उसके लिए उत्तम से उत्तम वस्तु साफ पानी है। जो ठंडा पानी सहन न कर सके, वह गुणगुना पानी इस्तेमाल करे। हाथ में या एक कटोरे में पानी लेकर उसे नाक में चढ़ाना चाहिये। नाक के एक छेद से चढ़ाकर दूसरे से हम निकाल सकते हैं और नाक के द्वारा पानी पी भी सकते हैं।

फेफड़ों में शुद्ध हवा ही भरनी चाहिये। इसलिए रात को आकाश के नीचे या बरामदे में सोने की आदत डालना अच्छा है। हवा से सरदी लग जायगी, यह डर नहीं रखना चाहिये। ठंड लगे तो ज़्यादा कपड़े हम ओढ़ सकते हैं। ओढ़ने का कपड़ा गले से ऊपर नहीं जाना चाहिये। अगर सिर ठंड को बरदास्त न कर सके तो उस पर एक रुमाल बांध लेना चाहिये। मतलब यह कि नाक को, जो कि हवा लेने का द्वार है, कभी ढंकना नहीं चाहिये।

सोते समय दिन के कपड़े उतार देने चाहिये। रात को कम कपड़े पहनने चाहिये और वे ढीले होने चाहिये। शरीर को चद्दर से ढंके तो रखना ही है, इसलिए वह जितना खुला रहे उतना ही अच्छा है। दिन में भी कपड़े जितने ढीले पहने जायं उतना ही अच्छा है।

हमारे आसपास की हवा हमेशा शुद्ध ही होती है, ऐसा नहीं होता। और न सब जगह की हवा एक-सी ही होती है। प्रदेश के साथ हवा भी बदलती है। प्रदेश का चुनाव हमारे हाथ में नहीं होता। मगर घर का चुनाव थोड़ा-बहुत हमारे हाथ में ज़रूर रहता है; और रहना भी चाहिये। सामान्य नियम यह हो सकता है कि घर ऐसी जगह ढूंढा जाय, जहां बहुत भीड़ न हो, आसपास गंदगी न हो और हवा और प्रकाश ठीक-ठीक मिल सकें।

शरीरको जिन्दा रखने के लिए हवा के बाद दूसरा स्थान पानी का है। हवा के बिना मनुष्य थोड़े क्षण तक जिन्दा रह सकता है और पानी के बिना थोड़े दिन तक। पानी इतना आवश्यक है, इसलिए ईश्वर ने हमें खूब पानी दिया है। बिना पानी की मरुभूमि में मनुष्य बस ही नहीं सकता। सहारा^१ के रेगिस्तान जैसे प्रदेशों में बस्ती दिखाई ही नहीं पड़ती।

तन्दुरुस्त रहने के लिए हर एक मनुष्य को चौबीस घंटे में पांच पौंड पानी या प्रवाही द्रव्य की आवश्यकता है। पीने का पानी हमेशा स्वच्छ होना चाहिये। बहुत जगह पानी स्वच्छ नहीं होता। कुएं का पानी पीने में हमेशा खतरा रहता है। उथले (कम गहरे) कुएं और बावड़ी का पानी पीने के लायक नहीं होता। दुःख की बात यह है कि हम देखकर या चखकर हमेशा यह नहीं कह सकते कि कोई पानी पीने लायक है या नहीं। देखने में और चखने में जो पानी अच्छा लगता है, वह दर असल जहरीला हो सकता है। इसलिए अनजाने घर या अनजाने कुएं का पानी न पीने की प्रथा का पालन करना अच्छा है। बंगाल में तालाब होते हैं। उनका पानी अकसर पीने के लायक नहीं होता। बड़ी नदियों का पानी भी पीने के लायक नहीं होता, खास कर के जहां नदी बस्ती के पास से गुजरती है और जहां उस में स्टीमर और नावें आया-जाया करती हैं। ऐसा होते हुए भी यह सच्ची बात है कि करोड़ों मनुष्य इसी प्रकार का पानी पीकर गुजारा करते हैं। मगर यह अनुकरण करने जैसी चीज हरगिज नहीं है। कुदरत ने मनुष्य को जीवन-शक्ति काफी प्रमाण में न दी होती, तो मनुष्य-जाति अपनी भूलों और अपने अतिरेक के कारण कब की लोप हो गयी होती। जहां पानी की शुद्धता के विषय में शंका हो, वहाँ पानी को उबाल कर पीना चाहिये। इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य को अपने पीने का पानी साथ लेकर घूमना चाहिये। असंख्य लोग धर्म के नाम पर मुसाफिरी में पानी नहीं पीते। अज्ञानी लोग जो चीज धर्म के नाम पर करते हैं, आरोग्य के नियमों को जाननेवाले वही चीज आरोग्य के खातिर क्यों न करें?

पानीको छानने का रिवाज तारीफ करने लायक है। इससे पानी में रहा कचरा निकल जाता है, लेकिन पानी में रहे सूक्ष्म जन्तु नहीं निकलते। उनका नाश करने के लिए पानी को उबालना ही चाहिये। छानने का कपडा हमेशा साफ होना चाहिये। उसमें छेद न होने चाहिये।

१. अरब का एक रेतीला प्रदेश।